SJIF 2014 = 3.189
ISSN: 2348-3083
An International Peer Reviewed & Referred
SCHOLARLY RESEARCH JOURNAL FOR
HUMANITY SCIENCE & ENGLISH LANGUAGE

# भवभूति और करुण रस: उत्तररामचरित के आलोक में

**डॉ. सीमा रानी शर्मा**
हिन्दू कॉलेज, मुरादाबाद

*Scholarly Research Journal's is licensed Based on a work at www.srjis.com*

संस्कृत साहित्य में करुण रस का स्मरण होते ही भवभूति के उत्तररामचरित [1] का नाम सबसे पहले मन में आता है। शृंगार रस के निरूपण में महाकवि कालिदास का जो स्थान है, करुण रस के निरूपण में वही स्थान महाकवि भवभूति का है। दोनों नाटककार के रूप में एक-दूसरे के प्रतिस्पर्धी माने जाते हैं, किन्तु दोनों की प्रतिभा के क्षेत्र भिन्न हैं। एक सौंदर्य और अनुराग के चितेरे हैं, तो दूसरे वेदना और विरह की गहराई के [2]। इसी कारण कवियों ने भवभूति का यशोगान करते हुए कहा कि करुण रस का विस्तार भवभूति ही करते हैं—'कारुण्यं भवभूतिरेव तनुते' [2]। प्रस्तुत शोध-पत्र में इसी उक्ति की कसौटी पर उत्तररामचरित का विवेचन किया गया है और यह देखा गया है कि कवि ने शोक की किन-किन परतों को किन शब्दों और किन उपमानों में बाँधा है।

भवभूति का जन्म दक्षिणापथ के पद्मपुर नामक नगर में तैत्तिरीय शाखा से जुड़े एक प्रतिष्ठित ब्राह्मण-कुल में हुआ था। अपने नाटकों की प्रस्तावना में उन्होंने स्वयं को नीलकण्ठ का पुत्र, जातुकर्णी का सुत तथा पद, वाक्य और प्रमाण का ज्ञाता बताया है [3]। आठवीं शताब्दी के आसपास वे कान्यकुब्ज के राजा यशोवर्मा की सभा से जुड़े रहे; कल्हण ने यशोवर्मा के सभा-कवियों में उनकी गणना की है [4]। उनके तीन नाटक उपलब्ध हैं—महावीरचरित, मालतीमाधव और उत्तररामचरित। इनमें अन्तिम कृति में करुण रस की प्रधानता है और इसी को कवि की परिपक्व रचना माना जाता है। अपनी विद्वत्ता के प्रति

आश्वस्त होते हुए भी भवभूति को समकालीनों से पूरा सम्मान नहीं मिला, और इस पीड़ा तथा आत्मविश्वास, दोनों की झलक उनके इस प्रसिद्ध श्लोक में मिलती है [5]—

ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां

जानन्ति ते किमपि तान् प्रति नैष यत्नः।

उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा

कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी॥ (मालतीमाधव, १.८ [5])

अर्थात् जो लोग यहाँ हमारी अवज्ञा करते हैं, वे कुछ जानते होंगे; यह प्रयत्न उनके लिए नहीं है। मेरे समान धर्म वाला कोई न कोई अवश्य उत्पन्न होगा, क्योंकि काल का कोई अन्त नहीं और पृथ्वी विशाल है। जिस कवि को अपने अनुभव की गहराई पर इतना भरोसा था, उसके लिए शोक केवल एक काव्य-विषय नहीं, जीवन का गम्भीर सत्य था।

रस-विवेचन की दृष्टि से देखें तो भरतमुनि ने नाट्य में आठ रस गिनाए हैं [6]—

शृङ्गारहास्यकरुणा रौद्रवीरभयानकाः।

बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः॥ (नाट्यशास्त्र, षष्ठ अध्याय [6])

इनमें करुण रस का स्थायिभाव शोक है। भरत ने रौद्र रस के कर्म का परिणाम करुण रस के रूप में देखा है [6]—और यह बात उत्तररामचरित की कथा पर सहज ही लागू होती है, क्योंकि रावण का छलपूर्ण सीता-हरण रौद्र कर्म है और उसी का फल राम की अन्तहीन वेदना है। अश्रुपात, विलाप, वैवर्ण्य, स्वरभेद और निःश्वास जैसे अनुभाव करुण रस की पहचान माने गए हैं [6]। परवर्ती आचार्य विश्वनाथ ने इष्ट के नाश और अनिष्ट की प्राप्ति को करुण रस का कारण बताया है तथा इसका वर्ण कपोत के समान धूसर और देवता यम को माना है [7]। भवभूति के नाटक में ये सभी तत्त्व इतनी सघनता से उपस्थित हैं कि पाठक को लक्षण-ग्रन्थ और काव्य के बीच की दूरी मिटती-सी दिखती है।

करुण रस भारतीय काव्य-परम्परा का उद्गम-स्थल भी है। आदिकवि वाल्मीकि ने क्रौञ्च-वध से व्यथित होकर जो पहली वाणी कही, वह शोक से उपजा छन्द थी [8]—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।

यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥ (रामायण, बालकाण्ड, २.१५ [8])

आनन्दवर्धन ने इसी प्रसंग को स्मरण करते हुए काव्य की आत्मा और शोक के सम्बन्ध को इन शब्दों में बाँधा [9]—

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।

क्रौञ्चद्वन्द्वियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः॥ (ध्वन्यालोक, १.५ [9])

अर्थात् काव्य की आत्मा वही अर्थ है, जो पहले आदिकवि के लिए क्रौञ्च-युगल के वियोग से उत्पन्न होकर शोक के रूप में श्लोकत्व को प्राप्त हुआ। भवभूति इसी परम्परा के उत्तराधिकारी हैं। उत्तररामचरित की प्रस्तावना में वे कहते हैं [1]—

लौकिकानां हि साधूनामर्थं वागनुवर्तते।

ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति॥ (उत्तररामचरित, १.१० [1])

अर्थात् सामान्य सज्जनों की वाणी अर्थ का अनुसरण करती है, किन्तु आदि ऋषियों की वाणी के पीछे अर्थ दौड़ता है। आदिकवि की इस ऋषि-वाणी की छाया में भवभूति ने राम-कथा के उसी अंश को चुना जहाँ वेदना सबसे गहरी है—सीता का परित्याग।

भवभूति के काव्य में करुणा की धारा के फूट पड़ने का एक बड़ा कारण यह है कि उन्होंने संसार की नश्वरता को बहुत निकट से देखा। उनके पास बाहरी जगत को देखने वाली दृष्टि भी है और मन के भीतर उतरने वाली सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि भी। मनुष्य की अन्तःस्थिति का जैसा सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण उन्होंने किया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है [2]। राम-कथा के मुख्यतः सीता-परित्याग वाले प्रसंग को लेकर उन्होंने अपनी भावनाओं को मूर्त रूप दिया है। उनकी वाणी में इतना बल है कि वह वृक्ष-वनस्पति ही नहीं, पत्थर को भी रुला देने की क्षमता रखती है। नीरस से नीरस व्यक्ति भी उत्तररामचरित को एक बार पढ़कर अवश्य ही आँसू बहा देगा [2]। भवभूति में भावों की कोमलता, हृदय-स्पर्शिता, तादात्म्यानुभूति और संवेदनशीलता एक साथ मिलती है, और इन्हीं गुणों के कारण कवियों ने 'कारुण्यं

भवभूतिरेव तनुते' कहकर उनका यशोगान किया है [2]। आगे उनके नाटक के कुछ अत्यन्त मार्मिक प्रसंगों पर क्रम से विचार किया जाता है।

उत्तररामचरित के तीसरे अंक में एक श्लोक है जो भवभूति की रस-दृष्टि का घोषणा-पत्र-सा माना जा सकता है [1]—

एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्

भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।

आवर्तबुद्बुदतरङ्गमयान् विकारान्

अम्भो यथा सलिलमेव तु तत्समग्रम्॥ (उत्तररामचरित, ३.४७ [1])

अर्थात् करुण ही एकमात्र रस है, जो निमित्तों के भेद से अलग-अलग रूप धारण करता प्रतीत होता है, जैसे जल ही भँवर, बुलबुले और तरंगों के रूप में दिखाई देता है, किन्तु वह सब मूलतः जल ही है। यह दृष्टि नाट्यशास्त्र की उस परम्परा से भिन्न है जिसमें आठों रस अपने-अपने स्थायिभावों के साथ स्वतन्त्र माने गए हैं [6]; फिर भी यह कथन नाटककार की अपनी सौन्दर्य-दृष्टि को स्पष्ट कर देता है। भवभूति के लिए शोक कोई एक भाव-मात्र नहीं, वह समस्त भावों की जड़ में बहने वाला जल है।

करुण का यह जल रामकथा में पहली बार सीता के हरण से उमड़ता है। रावण ने छल-नीति का प्रयोग करके सीता का हरण किया। उनके वियोग में राम की दशा इतनी दयनीय थी कि पत्थर भी रो देते थे और वज्र का भी हृदय फट जाता था [2]। उत्तररामचरित में यही स्मृति इस प्रकार आती है [1]—

अथेदं रक्षोभिः कनकहरिणच्छद्मविधिना

तथा वृत्तं पापैर्व्यथयति यथा क्षालितमपि।

जनस्थाने शून्ये विकलकरणैरार्यचरितै-

रपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्॥ (उत्तररामचरित, १.२८ [1])

अर्थात् स्वर्णमृग के छल-विधान से राक्षसों ने जो कुछ किया, वह पापपूर्ण घटना धो देने पर भी ऐसी पीड़ा देती है मानो मिटी ही न हो; सूने जनस्थान में आर्य राम की विकल चेष्टाओं को देखकर पत्थर भी रोता है और वज्र का हृदय भी फट जाता है। यहाँ कवि ने कठोरतम वस्तुओं—पत्थर और वज्र—को रुलाकर यह दिखा दिया है कि शोक की सीमा कहाँ तक जा सकती है।

किन्तु हरण की पीड़ा से भी गहरी पीड़ा परित्याग की है, क्योंकि उसमें शत्रु बाहर नहीं, निर्णय के रूप में भीतर है। सीता-परित्याग के बाद राम के हृदय की अवस्था वैसी ही थी जैसी पुटपाक में किसी औषधि की होती है [2]। पुटपाक वह विधि है जिसमें औषधि को पत्तों में लपेटकर ऊपर से मिट्टी का लेप किया जाता है और फिर अग्नि में पकाया जाता है; ताप भीतर ही भीतर चलता रहता है और बाहर कुछ दिखाई नहीं देता। कवि ने इसी उपमान से राम के शोक को बाँधा है [1]—

अनिर्भिन्नो गभीरत्वादन्तर्गूढघनव्यथः।

पुटपाकप्रतीकाशो रामस्य करुणो रसः॥ (उत्तररामचरित, ३.१ [1])

अर्थात् राम का करुण रस गहराई के कारण बाहर फूटता नहीं, उसकी घनी व्यथा भीतर ही छिपी रहती है; वह पुटपाक के समान है। यह उपमा भवभूति की शास्त्र-निष्ठ दृष्टि का भी परिचय देती है, जहाँ अनुभूति की गहराई को बताने के लिए चिकित्सा की भाषा उतर आती है।

प्रश्न उठता है कि यह पीड़ा आई कहाँ से? उत्तररामचरित की विशेषता यह है कि यहाँ शोक का कारण कोई खलनायक नहीं, स्वयं राम का लोकधर्म है। प्रथम अंक में राम प्रजा की आराधना के लिए सब कुछ त्यागने का संकल्प करते हैं [1]—

स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि।

आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा॥ (उत्तररामचरित, १.१२ [1])

अर्थात् प्रजा के आराधन के लिए स्नेह, दया, सुख, यहाँ तक कि जानकी को भी छोड़ते हुए मुझे कोई व्यथा नहीं होगी। नाटक आगे चलकर इसी वाक्य को सबसे कठोर व्यंग्य में बदल देता है, क्योंकि तीसरे अंक में वही राम व्यथा से टूटते दिखाई देते हैं जिन्होंने व्यथा न होने की बात कही थी। कारण और पीड़ित एक ही व्यक्ति हो जाए, तो करुणा बाहर से आई विपत्ति की नहीं रहती, अपने ही निर्णय की हो जाती है। कालिदास ने भी रघुवंश के चौदहवें सर्ग में सीता-परित्याग का प्रसंग लिखा है [10], किन्तु वहाँ वर्णन संयत है; भवभूति इसी प्रसंग को पात्रों के मुख से, उनकी साँस-साँस के साथ, मंच पर उतार देते हैं। यही वह अन्तर है जो एक को शृंगार का और दूसरे को करुण का कवि बनाता है।

राम ने गर्भिणी सीता का परित्याग किया था। वह भयभीत बाल-मृगी के समान चंचल नेत्रों तथा सुकुमार अंगों वाली थी। राम को विश्वास है कि जंगली जन्तुओं ने उसे अवश्य खा लिया होगा। इस विश्वास की पीड़ा इस श्लोक में फूटती है [2]—

त्रस्तैकहायनकुरङ्गविलोलदृष्टे-
स्तस्याः परिस्फुरितगर्भभरालसायाः।

ज्योत्स्नामयीव मृदुबालमृणालकल्पा

कव्याद्भिरङ्गलतिका नियतं विलुप्ता॥ (उत्तररामचरित, ३.२८ [1])

अर्थात् डरे हुए एक वर्ष के हिरन-शावक जैसी चंचल दृष्टि वाली, गर्भ के भार से अलसाई हुई, चाँदनी-सी कोमल और नवीन कमल-नाल जैसी उस सीता की अंग-लता को मांसभक्षी जन्तुओं ने निश्चय ही नष्ट कर दिया होगा। उपमाएँ—मृगशावक, चाँदनी, कोमल मृणाल—सब सुकुमारता की हैं; और उनके सामने 'कव्याद्' शब्द की कठोरता से करुणा और भी तीखी हो जाती है।

परित्यक्ता सीता शोक से सन्तप्त हैं और उनकी आभा नष्टप्राय है। उनके लिए नाटककार कहता है [1]—

करुणस्य मूर्तिरथवा शरीरिणी

विरहव्यथेव वनमेति जानकी॥ (उत्तररामचरित, तृतीय अंक [1])

अर्थात् वन में आती हुई जानकी मानो करुणा की मूर्ति हैं, अथवा शरीर धारण की हुई विरह-व्यथा हैं। सीता का इससे अधिक मार्मिक चित्रण और क्या हो सकता है! यहाँ वे पात्र-मात्र नहीं रह जातीं; वे स्वयं करुण रस का देहधारी रूप बन जाती हैं।

राम का शोक इतना गहरा है कि वे सोचते हैं कि मैं केवल दुःख भोगने के लिए जीवित हूँ। मर्म को बेधने वाले प्राण उनके हृदय में वज्र की कील के समान हो गए हैं [2]—

दुःखसंवेदनायैव रामे चैतन्यमाहितम्।

मर्मोपघातिभिः प्राणैर्वज्रकीलायितं हृदि॥ (उत्तररामचरित, तृतीय अंक [1])

अर्थात् राम में चेतना मानो दुःख का अनुभव करने के लिए ही स्थापित की गई है, और मर्म पर आघात करने वाले प्राण हृदय में वज्र की कील जैसे बन गए हैं। जीवन का यह रूप, जो सुख की जगह केवल पीड़ा को सहने का साधन बन जाए, करुण रस की सबसे कठोर परिणति है।

फिर भी राम अपने दुःख को शान्त करने के लिए विलाप को ही एकमात्र उपाय मानते हैं। जिस प्रकार पानी बढ़ जाने पर उसे बाहर निकाल देना ही तालाब के बचाव का उपाय है, उसी प्रकार शोक और क्षोभ में विलाप करना ही हृदय के बचाव का उपाय है [2]—

पूरोत्पीडे तटाकस्य परीवाहः प्रतिक्रिया।

शोकक्षोभे च हृदयं प्रलापैरेव धार्यते॥ (उत्तररामचरित, तृतीय अंक [1])

भरत के बताए अनुभावों में विलाप पहले से गिना गया है [6]; भवभूति उसे केवल बाहरी चिह्न नहीं रहने देते, वे उसे हृदय की रक्षा का साधन बना देते हैं। यह दृष्टि हमें उस भावविरेचन की याद दिलाती है जिसकी चर्चा नाट्य-विवेचन में दूर देशों तक हुई है, किन्तु भवभूति के यहाँ वह तर्क के रूप में नहीं, पात्र के अपने अनुभव के रूप में प्रकट होता है।

पंचवटी के परिचित स्थानों को देखकर राम का प्राचीन शोक उमड़ पड़ता है और उन्हें उसी प्रकार व्याकुल कर देता है, जैसे फैलता हुआ विष, स्थान से हिला हुआ बाण का

अग्रभाग या हृदय के मर्मस्थल में फूटा हुआ व्रण। इसमें भवभूति की समवेदना का सुन्दर प्रस्फुरण है [2]—

चिराद् वेगारम्भी प्रसृत इव तीव्रो विषरसः

कुतश्चित् संवेगात् प्रचल इव शल्यस्य शकलः।

व्रणो रुढग्रन्थिः स्फुटति इव हृन्मर्मणि पुनः

पुराभूतः शोको विकलयति मां नूतन इव॥ (उत्तररामचरित, तृतीय अंक [1])

अर्थात् मानो बहुत देर से असर करने वाला तीव्र विष फैल गया हो, मानो किसी आवेग से शल्य का टुकड़ा हिल गया हो, मानो गाँठ बँधा हुआ घाव हृदय के मर्म में फिर फूट पड़ा हो—इस प्रकार पुराना शोक नए के समान मुझे व्याकुल कर रहा है। तीनों उपमाएँ शारीरिक पीड़ा से ली गई हैं, और यही भवभूति की मनोवैज्ञानिक सूझ है कि पुराना शोक कभी मरता नहीं, केवल पपड़ी के नीचे सोया रहता है। समय बीतने पर भी स्थान की स्मृति उसे फिर जगा देती है।

राम के शोक का सजीव चित्रण इस श्लोक में है कि हृदय फट रहा है, किन्तु दो टुकड़े नहीं होता; शरीर मूर्च्छित होता है, किन्तु निर्जीव नहीं होता; शरीर तप रहा है, किन्तु भस्मसात् नहीं होता; दैव प्रहार करता है, किन्तु मेरे प्राण नहीं हरता [2]—

दलति हृदयं शोकोद्वेगाद् द्विधा तु न भिद्यते

वहति विकलः कायो मोहं न मुञ्चति चेतनाम्।

ज्वलयति तनूमन्तर्दाहः करोति न भस्मसात्

प्रहरति विधिर्मर्मच्छेदी न कृन्तति जीवितम्॥ (उत्तररामचरित, तृतीय अंक [1])

इस श्लोक की रचना ‘किन्तु नहीं’ की चार आवृत्तियों पर टिकी है: हर चरण में पीड़ा की चरम स्थिति बताई जाती है और फिर उसी के साथ एक निर्दय ‘किन्तु नहीं’ जुड़ जाता

है। यही अधूरापन करुण रस का सार है—मृत्यु का आश्रय भी राम को नहीं मिलता, इसलिए वेदना समाप्त नहीं होती, केवल चलती रहती है।

राम कहते हैं—हे सीता! मेरा हृदय फट रहा है, अंग शिथिल हो रहे हैं, संसार सूना हो गया है; मेरा हृदय जल रहा है, घोर अन्धकार में डूब-सी रही है मेरी अन्तरात्मा, और मूर्च्छा मुझे चारों ओर से घेर रही है; मैं अभागा क्या करूँ [2]। यही भाव इस श्लोक में पूर्णता तक पहुँचता है [1]—

देवि! स्फुटति हृदयं ध्वंसते देहबन्धः

शून्यं मन्ये जगदविरलज्वालमन्तर्ज्वलामि।

सीदन्नन्धे तमसि विधुरो मज्जतीवान्तरात्मा

विष्वङ्मोहः स्थगयति कथं मन्दभाग्यः करोमि॥ (उत्तररामचरित, तृतीय अंक [1])

अर्थात् हे देवि! हृदय फट रहा है, देह का बन्धन टूट रहा है, मैं जगत् को सूना मानता हूँ और निरन्तर ज्वाला से भीतर ही भीतर जल रहा हूँ; दुःख से व्याकुल मेरी अन्तरात्मा घोर अन्धकार में डूबती-सी जा रही है और चारों ओर से मोह मुझे ढक रहा है—मैं अभागा क्या करूँ?

तीसरे अंक की सबसे अनूठी नाट्य-योजना यह है कि सीता वहाँ अदृश्य रूप में उपस्थित हैं। तमसा के साथ वे पंचवटी में आती हैं, गंगा के वरदान से कोई उन्हें देख नहीं सकता, और राम बिना जाने अपना विलाप उन्हीं के सामने करते जाते हैं। दर्शक जानता है कि सीता वहीं हैं और राम नहीं जानते; यह नाटकीय विडम्बना करुण रस को दुगुना कर देती है, क्योंकि हर विलाप एक ऐसे श्रोता तक पहुँचता है जो उत्तर नहीं दे सकता। सीता के स्पर्श से राम की मूर्च्छा का दूर होना और फिर भी उन्हें पहचान न पाना इस दृश्य को ऐसी विरल मार्मिकता देता है कि वह संस्कृत नाट्य में अप्रतिम माना जाता है। यहाँ यह भी स्पष्ट हो जाता है कि भवभूति का करुण रस केवल वर्णन से नहीं, रचना से उत्पन्न होता है।

नाटक का अन्तिम अंक इस रचना को पूर्णता देता है। वहाँ वाल्मीकि द्वारा रचित एक नाटक का मंचन होता है, जिसके भीतर राम-सीता का अतीत फिर से घटित होता है, और

अभिनय के बीच ही सीता का पृथ्वी और गंगा के आश्रय से प्रकट होना तथा राम से मिलन होता है [1]। कथा के भीतर कथा की इस योजना से शोक को दूर से देखने की, उसे पहचानकर पार करने की सम्भावना खुलती है; पात्र अपनी ही पीड़ा को दर्शक की तरह देखते हैं, और इस दूरी में ही उसका शमन होता है।

उद्धृत श्लोकों को क्रम से रखकर देखें तो करुणा के तीन स्तर स्पष्ट होते हैं। पहला स्तर स्मृति का है, जहाँ हरण की घटना याद आते ही पत्थर और वज्र तक द्रवित हो जाते हैं। दूसरा स्तर आत्मग्लानि का है, जहाँ राम सीता की सुकुमारता का स्मरण करके उसके भक्षण की कल्पना से काँप उठते हैं। तीसरा और सबसे गहरा स्तर अस्तित्व के बिखराव का है, जहाँ हृदय, देह, जगत् और चेतना सब एक साथ टूटते दिखाई देते हैं। इन तीनों स्तरों के बीच कवि बार-बार सम्बोधन की ओर लौटता है—‘देवि!’—मानो विलाप का सार यह हो कि प्रिय के अभाव में कथन भी एक अधूरी पुकार बनकर रह जाता है। जिस पात्र को सम्बोधन का उत्तर नहीं मिलता, उसका शोक पाठक के भीतर उत्तर बनकर गूँजता है; और यही करुण रस की सबसे सच्ची सफलता है।

भवभूति की शैली पर यहाँ एक दृष्टि डाल लेना उपयोगी होगा। ऊपर उद्धृत श्लोकों में बार-बार टूटने और फटने की क्रियाएँ आती हैं—दलति, स्फुटति, ध्वंसते, भिद्यते, कृन्तति—और उनके साथ वज्रकील, शल्य, व्रण और पुटपाक जैसे उपमान, जो शरीर की पीड़ा से लिए गए हैं। शब्दों की यह चयन-रीति शोक को केवल कहने की वस्तु नहीं रहने देती, उसे सुनने वाले के शरीर में उतार देती है। ‘न भिद्यते’, ‘न मुञ्चति’, ‘न भस्मसात्’, ‘न कृन्तति’ जैसी निषेध-रचनाएँ भाव को ऐसी गाँठ में बाँध देती हैं जो खुलती नहीं। बड़े समास और गम्भीर ध्वनि वाले शब्द ओज का संचार करते हैं, पर उनके भीतर बहता भाव कोमल है; यही कठोर बनावट और कोमल अनुभूति का संगम भवभूति की विशेषता है।

इस पीड़ा का वास्तविक भार तभी समझ में आता है जब उसके सामने बीते हुए सुख को रखा जाए। प्रथम अंक में राम अतीत की रातों का स्मरण करते हैं [1]—

किमपि किमपि मन्दं मन्दमासत्तियोगा-

दविरलितकपोलं जल्पतोरक्रमेण।

अशिथिलपरिरम्भव्यापृतैकैकदोष्णो-

रविदितगतयामा रात्रिरेव व्यरंसीत्॥ (उत्तररामचरित, प्रथम अंक [1])

अर्थात् निकटता के कारण धीमे-धीमे, बिना क्रम के, कपोल से कपोल सटाकर कुछ-कुछ बातें करते हुए, और एक-दूसरे को ढीले न पड़ने वाले आलिंगन में बाँधे हुए हम दोनों की रात कब बीत गई, पता ही नहीं चला। इस मधुर स्मृति के पास आते ही तीसरे अंक का शून्य और भी गहरा लगता है: जितनी निकटता कवि ने पहले रची, उतनी ही दूरी उसकी विरह-वेदना को देता है।

राम की यह पीड़ा केवल शोक से नहीं, प्रेम की गहराई से उपजी है, और कवि इस बात को भूलते नहीं। प्रथम अंक में राम-सीता के दाम्पत्य-प्रेम का जो चित्र है, वह इस प्रकार है [1]—

अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगुणं सर्वास्ववस्थासु यद्

विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः।

कालेनावरणात्ययात् परिणते यत्स्नेहसारे स्थितं

भद्रं तस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत् प्राप्यते॥ (उत्तररामचरित, १.३९ [1])

अर्थात् जो सुख और दुःख में एक-सा साथ देता है, सभी अवस्थाओं में जहाँ हृदय को विश्राम मिलता है, जहाँ बुढ़ापे से भी रस नहीं सूखता और समय बीतने पर लाज के आवरण के हट जाने से जो स्नेह के सार में परिपक्व हो जाता है—ऐसा कल्याणकारी प्रेम किसी भाग्यशाली मनुष्य को ही कठिनाई से मिलता है। जिस प्रेम को कवि ने इतनी ऊँचाई पर रखा, उसके टूटने की पीड़ा का माप भी उतना ही गहरा होना स्वाभाविक है। यह भी ध्यान देने की बात है कि वाल्मीकि की कथा में परित्यक्ता सीता पृथ्वी में समा जाती हैं, जबकि भवभूति नाटक के अन्त में राम और सीता का मिलन कराते हैं [1]। करुणा की इतनी लम्बी

यात्रा के बाद यह मिलन कवि की उस आस्था को प्रकट करता है कि शोक अन्तिम सत्य नहीं है, उसकी परिणति मिलन और शान्ति में होनी चाहिए।

यहाँ एक मूल प्रश्न सामने आता है: जिस शोक को जीवन में कोई सहना नहीं चाहता, उसे नाटक में देखकर सहृदय क्यों द्रवित होकर भी तृप्त होता है? रस-सिद्धान्त के आचार्यों ने इसका समाधान साधारणीकरण में खोजा है। उनके अनुसार नाटक में राम की व्यथा दर्शक के लिए राम की व्यक्तिगत व्यथा नहीं रह जाती; वह देश-काल और व्यक्ति की सीमाओं से मुक्त होकर सबकी सामान्य अनुभूति बन जाती है, और इसी अवस्था में उसका आस्वादन सम्भव होता है [11]। उपनिषद् ने रस को जिस परम तत्त्व का रूप कहा है, उसी में आनन्द की प्राप्ति भी निहित मानी गई है [12]—

रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति॥ (तैत्तिरीयोपनिषद्, ब्रह्मानन्दवल्ली [12])

अर्थात् वह (ब्रह्म) रस-स्वरूप है, और इस रस को पाकर ही जीव आनन्दित होता है। इस दृष्टि से करुण रस का आस्वाद भी अन्ततः आनन्द की ही एक अवस्था है, और यही कारण है कि उत्तररामचरित को पढ़कर रोने वाला पाठक पुस्तक को छोड़ता नहीं, बार-बार उसके पास लौटता है। भवभूति की महत्ता इसी में है कि उन्होंने शोक को इतना सच्चा और इतना सघन रचा कि उसका साधारणीकरण सहज हो गया।

यह भी कहा जाता है कि करुणा की इतनी सघनता नाटक की गति को कहीं-कहीं मन्द कर देती है और राम के चरित्र में प्रतिकार की जगह विलाप अधिक दिखता है। इस आपत्ति में सच्चाई का अंश अवश्य है, पर भवभूति का लक्ष्य युद्ध या विजय का वर्णन करना नहीं था; उनकी रुचि उस पीड़ा के विश्लेषण में थी जो मनुष्य को भीतर से तोड़ती और फिर भी जीवित रखती है। इसी कारण उत्तररामचरित को घटना-प्रधान नहीं, अनुभूति-प्रधान नाटक कहना अधिक उचित है, और उसकी सार्थकता को उसी कसौटी पर परखना चाहिए जिस पर कवि ने उसे रचा।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि भवभूति का करुण रस केवल दया या सहानुभूति का भाव नहीं है। उसमें नश्वरता का बोध है, मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मता है, प्रेम की गहराई है और

शारीरिक पीड़ा से लिए गए उपमानों की बनावट है। उनके श्लोक पत्थर और वज्र तक को द्रवित करने की क्षमता रखते हैं [2]। जब कवि स्वयं कहता है कि रस एक ही है और वह करुण है [1], तब यह दावा केवल कथन नहीं रह जाता, पूरे नाटक का अनुभव बन जाता है। इसीलिए 'कारुण्यं भवभूतिरेव तनुते' की उक्ति आज भी उतनी ही सार्थक है जितनी तब थी जब कवियों ने पहली बार इसे कहा था।

## सन्दर्भ

*[1] भवभूति, उत्तररामचरितम् (श्लोक-संख्या मुद्रित संस्करण के अनुसार)।*

*[2]* कपिलदेव द्विवेदी (डॉ.), संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास, रामनारायणलाल विजय कुमार, इलाहाबाद, पृष्ठ ४१३–४१४।

*[3] भवभूति, महावीरचरितम्, प्रस्तावना।*

*[4] कल्हण, राजतरङ्गिणी, चतुर्थ तरङ्ग।*

*[5] भवभूति, मालतीमाधवम्, प्रथम अंक।*

*[6] भरतमुनि, नाट्यशास्त्र, षष्ठ अध्याय (रस-प्रकरण)।*

*[7] विश्वनाथ कविराज, साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद।*

*[8] वाल्मीकि, रामायण, बालकाण्ड, द्वितीय सर्ग।*

*[9] आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक, प्रथम उद्योत।*

*[10] कालिदास, रघुवंशम्, चतुर्दश सर्ग।*

*[11] अभिनवगुप्त, अभिनवभारती (नाट्यशास्त्र की टीका), रस-प्रकरण।*

*[12] तैत्तिरीयोपनिषद्, ब्रह्मानन्दवल्ली।*